



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2020; 6(4): 98-103

© 2020 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 28-05-2020

Accepted: 30-06-2020

सम्पत कुमार

संस्कृत-विभाग, दिल्ली

विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी की रस-मीमांसा

सम्पत कुमार

सारांश

हम आचार्य द्विवेदी के नवीन विचारों को निम्नलिखितरूपेण देख सकते हैं प्राचीन कव्यशास्त्रीय आचार्यों ने जिन ग्रन्थों को प्रतिपादित किया है उनमें कुछ प्रयोजन अवश्य दिए हैं परन्तु आधुनिक संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध व सुप्रतिष्ठित आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्य रचना के प्रयोजन के विषय में अत्यन्त स्वतन्त्र व भिन्न विचारों को प्रतिपादित किया है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार अलङ्कृत अर्थ ज्ञान मात्र, कवि की दृष्टि, शब्दार्थ के ज्ञान पर आधारित काव्य-लक्षण तथा काव्यधर्म के आधार को 'काव्य' कहते हैं। आचार्य द्विवेदी के मत में काव्य का प्रयोजन युगावश्यकतापूर्ति, राष्ट्रप्रबोध एवं स्वधर्म रक्षण है और साथ ही रस स्वरूप औपम्यादि उक्ति यह अर्थालङ्कारों की चमत्कृति से सम्बद्ध है। गुणोक्ति यह माधुर्य, ओज, प्रसाद की स्थिति में स्वीकार की जाती है। अर्थान्तरोक्ति यह व्यङ्ग्य विषयक चमत्कृति में रहती है। वस्तुक्ति विभावानुभावसञ्चारि के निवेशन से काव्य में वस्तुक्ति का सञ्चार होता है। अतएव आचार्य द्विवेदी ने एक वाक्य में ही सम्पूर्ण 'रस' तत्त्वों को समाहित कर दिया है- 'भावसंयुता चिदेव रस'।

कुटशब्द: आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, काव्यशास्त्र, प्रयोजन, युगावश्यकतापूर्ति, राष्ट्रप्रबोध

प्रस्तावना

काव्य, आदर्श, आनन्द, चमत्कार, नैतिकता एवं मानव संवेदना का परिपूर्ण प्रमाण है। कव्य रचना के सतत अभ्यास से कवि काव्य-सौन्दर्य को उत्कृष्ट से सर्वोत्कृष्ट बनाता है। जिससे सहृदयों को काव्यानन्द की प्राप्ति होती है। काव्यानन्द की प्राप्ति का मुख्य आधार रस है। अन्यकाव्यशास्त्रीय विचारों के समान रस के विषय में भी आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के मौलिक विचार हैं। आचार्य की रस विषयक मान्यताओं की समीक्षा प्रस्तुत है। आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के अनुसार काव्य के रस विषयक तथ्यों को जानने से पूर्व उनके द्वारा प्रतिपादित काव्यस्वरूप, कव्यप्रयोजन व कव्यहेतु विषयक तथ्यों पर अवश्य ही दृष्टिपात करनी चाहिए। अतः हम उपर्युक्त तथ्यों को निम्नलिखित प्रकार से विवेचित करते हुए आचार्य के प्रयास को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक योगदान का अवलोकन करेंगे-

काव्यलक्षण: आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्यलक्षण की चर्चा की है जिसमें अलंकारवादी परम्परा को पुनः पुष्ट करते हुए दार्शनिक पृष्ठभूमि में काव्य को भावात्मक व ज्ञानात्मक स्वरूप बताते हुए लक्षण किया है- "शब्दार्थ के अलङ्कृत स्वरूप जो लोकोत्तर आनन्दांश से युक्त एवं जनहितकारी हो

Corresponding Author:

सम्पत कुमार

संस्कृत-विभाग, दिल्ली

विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

उसे काव्य कहते हैं।¹¹ 'इन्होंने शब्दों को बाह्य और काव्य को ज्ञान रूप माना है।' यद्यपि काव्य के लिए शब्द अनिवार्य होता है तथापि शब्द को उपचारतः काव्य मान लेना उचित नहीं है। जिस प्रकार प्रपानक रस के लिए अनेक तत्त्वों की आवश्यकता होती है परन्तु उन तत्त्वों को प्रपानक नहीं कहा जा सकता है वैसे ही काव्य के लिए शब्दार्थ की आवश्यकता होती है परन्तु शब्दार्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता है। शब्दार्थ उपाधि मात्र है। मूलतः काव्य तो उसका भवात्मक ज्ञान रूप है। प्रपानक के पात्र को भला कोई प्रपानक तो नहीं कह सकता है।¹²

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के अनुसार अलङ्कृत अर्थ ज्ञान मात्र को काव्य कहते हैं, जो विशिष्ट ज्ञान का प्रतिपादन करता हो। इसके साथ ही कवि की दृष्टि³, शब्दार्थ के ज्ञान पर आधारित काव्य लक्षण⁴ काव्यधर्म के आधार⁵ को भी काव्य कहते हैं।

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अलङ्कार को काव्य के उस रूप या अर्थ में ग्रहण नहीं किया जिस रूप में प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है अपितु काव्य की पूर्णता के रूप में 'अलङ्कार' का ग्रहण किया है अर्थात् "अलं भावो ह्यलङ्कारः"। यहाँ 'अलम्' का अर्थ पर्याप्त किया गया है। इनके अनुसार 'अलङ्कार' काव्य-सौन्दर्य व हेतु दोनों के लिए उपयुक्त है। पूर्णता से युक्त, दोष रहित व अलङ्कार से युक्त जो विशिष्ट ज्ञान है, उसे काव्य कहते हैं।

काव्यप्रयोजन: संसार के समस्त कार्यों का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। 'कोई भी व्यक्ति निष्प्रयोजन ही किसी कार्य में संलग्न नहीं होता'- ऐसा मत पूर्वाचार्यों द्वारा ही प्राप्त है⁶ परन्तु आधुनिक संस्कृताकाश के आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी काव्य के संदर्भ में कहते हैं - "जब कोई कवि अपनी कविता करता है तो उसकी बुद्धि में 'कविता रचना' ऐसा सप्रयोजन या निष्प्रयोजन दोनों ही सम्भव हो सकता है। सदैव कवि किसी उद्देश्य साधना के लिए ही काव्य-रचना नहीं करता है, यथा चटका पक्षी प्रातः काल कलरव तो करता है, परन्तु सतत् उसका चणक-कण प्राप्त करना ही नहीं होता अपितु कलरव तो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है।⁷

आचार्य भरत ने सर्वप्रथम 'नाट्यशास्त्र' में काव्य प्रयोजन श्रम-शक्ति एवं मनोरञ्जन को प्रतिपादित किया।⁸ आचार्य भामह ने काव्य को मोक्ष-प्राप्ति का साधन बताया, जिसे रस की अलौकिक सिद्धि द्वारा अभिनवगुप्त ने पुष्ट करने का प्रयास किया। पुनः आचार्य मम्मट के समय में एक परिवर्तन हुआ और काव्य का परम-प्रयोजन 'आनन्द' को माना गया। काव्यानन्द सहृदय (श्रोता, दर्शक) समाज, समय और सामाजिक आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन स्वाभाविक रूपेण उपेक्षित ही होता है। इसी

क्रम को आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने स्वाभाविकता व आवश्यकता के अनुसार ही काव्य प्रयोजन को प्रतिपादित किया है। पुनः आचार्य काव्य-प्रयोजन के विषय में बताते हैं- 'विश्व प्रसिद्ध तीन प्रकार की ऐषणा पुत्रैषणा, वित्तैषणा व लोकैषणा से रहित यदि काव्य की रचना है तो फिर कवि का उसके अन्य प्रयोजनों से भला क्या सम्बन्ध रहेगा? जिस प्रकार महर्षि वाल्मीकि को 'रामायण' महाकाव्य की रचना के प्रति किसी भी ऐषणा की अपेक्षा नहीं थी। अतः कवि की दृष्टि से कव्य सप्रयोजन एवं निष्प्रयोजन दोनों ही हो सकता है।⁹' आचार्य ने काव्य के प्राचीन प्रयोजनों के अतिरिक्त कुछ अन्य काव्य-प्रयोजन का उल्लेख किया है। वें इसप्रकार हैं-

युगावश्यकतापूर्ति: सम्प्रति राष्ट्रीय स्तर पर ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के आवश्यकता-पूर्ति से ही मानव कल्याण सम्भव हो सकता है और यह भी सर्वविदित है कि काव्य केवल एक राष्ट्र की सम्पत्ति नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के कल्याणार्थ होना चाहिए इसी चिन्तन के फलस्वरूप ही आचार्य ने युगावश्यकता-पूर्ति को काव्य-प्रयोजन में प्रमुखता से स्थान दिया है। इसकी पुष्टि हेतु आचार्य ने महाकवि कालिदास की रचनाओं को उद्धरणस्वरूप स्वीकार किया है- 'रघुवंशव' में धन, यश एवं शिवेतरक्षति के लिए काव्य रचना नहीं अपितु रघु की वीरता 'कुमारसम्भवम्' में कुमार की उत्पत्ति, 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में वीर भरत एवं दुष्यन्त की रण-कौशलता के वर्णन द्वारा भारतियों में नवचेतना एवं उत्साह का सञ्चार कर उन्हें सुषुप्तावस्था से जाग्रत करना ही कवि का लक्ष्य रहा होगा। जिसके लिए सरस एवं सरल आनन्दायक काव्यों का उन्होंने आश्रय लिया। इस प्रकार कवि युग की समस्याओं के निराकरणार्थ काव्य-रचना करता है।¹⁰

स्वधर्म रक्षण: यह प्रयोजन धर्म को लक्षित कर स्वीकार किया गया है। इसमें धर्म की रक्षा के लिए काव्य की रचना कवि द्वारा होती है। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भारतवर्ष में सङ्क्रमण काल के पश्चात् लगभग १५ वीं- १६वीं शताब्दी के समय हो रहे आक्रमणकारियों से रक्षार्थ एवं सामन्तों, दासों, व्यापारियों, शिल्पकारों, किसानों इन सभी को स्वधर्म-रक्षार्थ के माध्यम से एकजुट होकर समाज में एक नई ऊर्जा का सञ्चार करने वाले गोस्वामी तुलसीदास ने वाल्मीकीय रामायण को तत्कालीन जन-भाषा में परिवर्तित कर 'रामचरितमानस' के स्वरूप में जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत कर स्वधर्म रक्षण का मार्ग प्रशस्त किया। इसी काव्य के फलस्वरूप कवी ने यवनों के आक्रमण से

क्षत-विक्षत सनातन धर्म की रक्षा हेतु अपने काव्य के द्वारा जो अद्भूत योगदान दिया वह अविस्मरणीय है।¹¹

उल्लासस्त्रिविधोऽप्येष रसत्वेनैव कीर्त्यताम्।
मात्रामात्रकृतं भेदमवलम्ब्य हि भेदवान्॥¹⁵

राष्ट्रप्रबोध: कभी-कभी राष्ट्र की संप्रभूता की रक्षार्थ काव्य-रचना करना स्वधर्म समझा जाता है। राष्ट्र की रक्षा हेतु कवि जो काव्य-रचना करता है वह सर्वोत्कृष्ट काव्य होता है। प्राचीनाचार्यों ने काव्य-रचना के प्रयोजन का लक्ष्य आनन्द माना है वहीं आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के अनुसार राष्ट्रीयता को काव्य का परम प्रयोजन स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्र की अस्मिता के रक्षार्थ रचित कृति को सर्वोत्तम काव्य की श्रेणी में स्वीकार किया जाना चाहिए।¹²

रस स्वरूप: आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के अनुसार काव्य अलंकृत अर्थ की संवित्ति है। इसमें आनन्दकोष के उल्लास के रूप में विशेष प्रकार का विभावन व्यापार निहित रहता है।¹³ आनन्दकोष के उल्लास से काव्यगत समस्त प्रकार के सौन्दर्य को ग्रहण किया गया है जो कहीं तो उपमादि अलङ्कारों के कारण होता है, कहीं रस के कारण और कहीं वस्तु की उक्ति के कारण। इस आधार पर आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने काव्य में चार प्रकार की उक्तियों को मान्यता दी है।

औपम्यादि उक्ति: यह अर्थालङ्कारों की चमत्कृति से सम्बद्ध है।

गुणोक्ति: यह माधुर्य, ओज, प्रसाद की स्थिति में स्वीकार की जाती है।

अर्थान्तरोक्ति: यह व्यङ्ग्य विषयक चमत्कृति में रहती है।

वस्तुक्ति: विभावानुभावसञ्चारि के निवेष्टन से काव्य में वस्तुक्ति का संचार होता है।

औपम्यादि उक्ति: इससे तात्पर्य है कि उपमा रूपक आदि की चमत्कृति ही औपम्यादि उक्ति है। काव्य विषयक उक्त उक्तियों से अतिरिक्त आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने रसोक्ति नामक किसी संज्ञा को स्वीकार नहीं किया है और ना हि वे वक्रोक्ति को स्वीकार करने के पक्षधर प्रतीत होते हैं।¹⁴ आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने आनन्दकोष के उल्लास के रूप में इन उपर्युक्त सभी रूपों को रस की संज्ञा दिया है। जैसा कि अधोलिखित कारिका से विदित होता है-

आर्थात् आनन्दकोष के रूप में स्थित उपर्युक्त तीनों प्रकार के उल्लास रसरूप में कहे गये हैं। उल्लास के तारतम्य मात्र से ही उनका परस्पर भेद है। इस प्रकार आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी व्यापक अर्थ में शृङ्गार, हास्य, करुण इत्यादि को रस की संज्ञा न देकर अलङ्कृत अर्थ के संवित्ति के रूप में आनन्दकोष के उल्लास को रस मानते हैं।

रस के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए 'काव्यालङ्कारकारिका' में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि काव्य का जो प्रभाव सामाजिक की चेतना पर पड़ता है वह रस है। इसलिए रस काव्य का धर्म नहीं है।¹⁶ आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं को काशीधाम के अन्तर्गत रखकर अपनी काव्यशास्त्रीय मान्यता को उसके अनुसार व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। 'नाट्यानुशासनम्' के चतुर्थ एवं पञ्चम उन्मेष पूर्णतः रस विचार पर केन्द्रित है। काव्य, नाट्य आदि के माध्यम से कला-समाधि को प्राप्त करने में ही आचार्य ने काव्य, नाट्य की सार्थकता स्वीकार की है। रस को उन्होंने मेय मानते हुए नटराज शिव से अभिन्न माना है जो श्री (सौन्दर्य) से विभूषित और परात्पर है।¹⁷

परात्पर से उनका अभिप्राय रस की अलौकिकता से है। नाट्य में नट, नर्तक अथवा गायक के द्वारा किया गया प्रस्तुतिकरण अत्यधिक आकर्षण होता है। इसे आचार्य "कलारूपी-मयुरी" की संज्ञा देते हैं। जिसकी काञ्चनवासयष्टि भाव की चेतना है।¹⁸ कलाओं में नट-व्यापार रूप नाट्य रस का आश्रय माना गया है। जिसे नाटकादि के रूप में दस प्रकार का माना गया है। इसलिए सहृदयजन नाट्य और उसमें होने वाले नर्तन गान आदि से रस सम्पदा का अनुभव करते हैं। इस तरह से आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी रस और कला को एक-दूसरे से जोड़ देते हैं। नृत्य, नाट्य आदि में अङ्ग-भङ्गिमाओं के माध्यम से कला का निःसरण होता है और गीत में कण्ठ स्वर से लेकिन दोनों से ही रस और भावों की सातिशय विभावना का अनुभव भावक की अन्तरात्मा को होता है।¹⁹ कलाएँ रस के रूप में भावक के अन्तःकरण का आहारण समान रूप से करती हैं। इसलिए सङ्गीत, नृत्य आदि कलाओं से भी रसानुभूति आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी स्वीकार करते हैं।²⁰ चूँकि नाट्य मनुष्य की पूर्णता का प्रतिबिम्ब है इसलिए उसमें प्रेक्षक का चित्त विराम अनुभव करता है। इसलिए नृत्य, गीत, चित्र, मूर्ति आदि कलाएँ अङ्ग हैं, नाट्य अङ्गी है और ये सब कलाएँ अपने अङ्गी में विलय को प्राप्त होती हैं। इस प्रकार नाट्य

के धरातल पर आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने रस का चिन्तन किया है। रस की परिणति चित्त-समाधि योग के रूप में उत्पन्न होती है जिसे आचार्य ने 'रसाद्याभियोग' कहा है।²¹

रस क्या है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य द्विवेदी ने लिखा है - 'चित्त्व' अर्थात् चित् रस है और 'चित्त' रसत्व है। इत्यादि भावों कि योजना से रस में शृङ्गारत्व आदि का आधान होता है-

रसत्वं किमिति प्रश्ने चित्त्वमुत्तरमुत्तमम्।

भावमां योजना तत्र शृङ्गारत्वादि-साधिका ॥²²

इस आधार पर रस क स्वरूप निरूपण करने के लिए एक नवीन सूत्र का निर्माण किया गया है- 'भावसंयुता चिदेव रस' अर्थात् भावों से युक्त 'चित्' ही रस है।²³ भाव शब्द से यहाँ विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव सभी का ग्रहण किया गया है। आचार्य के मत में भरत का रससूत्र- 'विभावानुभावसंचारिभावसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' - रस सूत्र नहीं है अपितु रस-निष्पत्ति क सूत्र है इसलिए भावयुक्त चित् को ही रस कहना उपयुक्त प्रतीत होता है।²⁴

रस चिन्तन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने रस का स्वरूप निरूपण करते समय दार्शनिकता का आधार ग्रहण किया है। 'अहं ब्रह्माऽस्मि' के अनुभव के समान रसानुभूति को कल्पित किया है। रसभोग नामक 'नाट्यानुशासनम्' के पञ्चम उन्मेष के आरम्भ में रस को सौन्दर्य से अभिन्न और एक माना है-

'काव्यं नाट्यं च नृत्यं च गीतमालेख्यमेव च।

यदौपयिक-सौन्दर्यं स एकः सः रसः परम् ॥²⁵

इस प्रकार आचार्य ने अनेक विधाओं से प्राप्त होने वाले सौन्दर्य को ही रस माना है अर्थात् सौन्दर्य' काव्य, नाट्य, नृत्य, गीत और चित्र किसी भी माध्यम से प्राप्त हो उसे एक ही सौन्दर्य अभिधान किया है। यहाँ सौन्दर्य का तात्पर्य रस से है। रस विषयक जिज्ञासु के द्वारा पूछे गए प्रश्न "रस क्या है?"

इनके उत्तर में आचार्य द्विवेदी ने एक प्रश्न प्रस्तुत किया है- "क्या हो तुम?"²⁶ तात्पर्य यह है कि 'स्व' या 'आत्मा' स्वतः विदित है। ऐसा कोई नहीं है जो 'स्व' को नहीं जानता उसी प्रकार रस और सौन्दर्य शब्दों का बोध भी स्वविदित है। इस स्वानुभूति रूप

रस का अलग-अलग प्रसङ्गों में अलग-अलग अनुभवों के रूप में व्याख्यायित किया जाता रहा है- कथारस, ध्यानयोगजन्य रसादि। 'स्व' तत्व में सत्ता और चिति के साथ आनन्दकला का सन्निवेश रहता है जैसे कि वेदान्त में ब्रह्म को सच्चिदानन्द रूप मान गया है। यद्यपि 'मैं सच्चिदानन्द रूप हूँ' सामान्यावस्था में यह बोध नहीं रहता है तथापि आत्मतत्त्व की सच्चिदानन्दरूपता तर्कसिद्ध है। सत्, चित् और आनन्द में आनन्दनामक कला सर्वप्रमुख है। जिस पर सत्ता और चेतना नामक कलाएँ आश्रित हैं।²⁷ आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी सत्ता, चेतना और आनन्द की समष्टि को सांख्यदर्शन में कहे गए सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों के सदृश मानते हैं। जिस तरह से तीन गुण प्रकृति का स्वभाव है उसी तरह से सत्, चित् और आनन्द ये परमात्मा का स्वभाव है।²⁸

आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के अनुसार रसानुभूति काल में चित्त-समाधि-योग से रसाद्वैत कि सिद्धि होती है। कला के क्षेत्र में पहले द्वैत ही दिखाई देता है, लेकिन उसकी परिणति अद्वैत में होती है-

'कलाक्षेत्रे पुरो द्वैतं पश्चादद्वैतमीक्ष्यते।

अद्वैतपरमास्तस्मात् कलाः सर्वा इह स्थिताः ॥²⁹

तात्पर्य यह है कि विविध भाव पृथक्-पृथक् अनुभूत होते हुए भी रसानुभूति काल में पृथक् प्रतीत नहीं होते हैं। उसी प्रकार जैसे कि ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर अहम्, त्वम्, इदम् आदि का पृथक् से भान नहीं होता। इसी को आचार्य मम्मट विगलित विद्या वेदान्तरानन्द कहते हैं।³⁰

अनेकत्व का एकत्व में विलय प्रत्याहार कला कहा गया है। जिस प्रकार प्रलय काल में समस्त चराचर जगत् का महाकाली (महाकाल की शक्ति) में लय हो जाता है जिस प्रकार 'अष्टांगयोग' के प्रत्याहार अंग में समस्त बाह्य बोध लय (समाप्त) हो जाता है उसी प्रकार कलाजन्य रसानन्द में समस्त बाह्य बोध विलीन हो जाते हैं और आत्मा में रस का सञ्चार होता है। इस प्रकार आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि चित् (चित्ति या चेतना) रस है और चित्त्व रसत्व है तथा रत्यादि भावों की योजना से रस में अर्थात् चित् में शृङ्गारत्वादि की सिद्धि होती है। अतः आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी के अनुसार एक वाक्य में रस की परिभाषा प्रस्तुत की जाए तो वह है- 'भाव संयुक्त चित् ही रस है।'

रस के घटक तत्त्व: रस के घटक तत्त्व से तात्पर्य उन तत्त्वों से है जिसके संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। रस सैध्दान्त के स्थापक आचार्य भरतमुनि विभाव, अनुभाव, सञ्चारी के संयोग से स्थायी भाव से ही रस रूप की निष्पत्ति मानते हैं।³¹ आचार्य धनञ्जय इसके सात्विक भाव का पृथक् निर्देश करते हैं।³² इस प्रकार से विभाव, अनुभाव, सञ्चारी, स्थायी और सात्विक भाव रस निष्पत्ति के घटक है। 'नाट्यानुशासनम्' के द्वितीय उन्मेष में नाट्य की विभूति का वर्णन करते समय रेवाप्रसाद द्विवेदी ने नाट्य के घटक तत्त्वों को भी देवाधिदेव नटराज शिवरूप माना है। वे लिखते हैं-

भवानेव विभावोऽत्र सानुभावः रसात्त्विकः ।
स्थायित्वं वै भवानेव व्यभिचारिषु सेवते ॥

(स्वेद, स्तम्भ आदि 8) सात्विक भाव तथा (कर, काटि आदि की चेष्टाओं के रूप में स्वीकृत) अनु (स्थायी और सञ्चारी के साथ चलने वाले किन्तु उनके बाद उत्पन्न होने वाले) भावों से युक्त विभाव (शकुन्तला दुष्यन्त आदि काव्यविवर्त या नाट्यविवर्त के रूप में उपस्थित आलम्बन और उद्दीपन) भी आप ही है। सञ्चारी(वि + अभि = वि विशेषरूप से अभि = चहुँओर, चारी = चरणशील) कहलाने वाले भावों के बीच स्थायित्व से युक्त (रति, हास आदि नहीं अपितु) आप ही हैं।³³ इसप्रकार उक्त प्रसङ्ग में रस के घटक तत्त्वों को भी शिव से अभिन्न माना है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि रस अखण्ड है और रसानुभूति काल में विभावादि घटक तत्त्वों की रस से पृथक् सत्ता अनुभूत नहीं है। इसलिए जहाँ रस रस 'शिव' रूप है³⁴ वही उसके घटक-तत्त्व भी 'शिव' रूप है। आचार्य विश्वनाथ भी साहित्यदर्पण में रस को अखण्ड कहते हैं।

संदर्भ सूची

1. ज्ञानात्मकोऽपि शब्दः स्यादुपाधिः काव्यवर्ष्णि। पात्रं रसे पानकाख्ये दर्पणो वा तनौ यथा ॥
2. आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना। अलङ्कृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला ॥ -का.का. का.सं.-1
3. ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थन्तरात्मकः। यः कश्चन चमत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते ॥ - का.का. का.सं.-1३४
4. या चैषा पूर्णता-युक्ता संविन्नग्री नवा वधूः। सैव विच्छित्ति-सम्पन्न कवितात्वं प्रपद्यते ॥ -का.का. का.सं.-1
5. प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते। यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत् केन गृह्यते ॥ - श्लोकवार्तिक- कुमारिलभट्ट- 1/12

6. प्रयोजनं कवेः काव्ये नापि किञ्चन दृश्यते। चुडकृतौ कलाविङ्कस्य यथा प्राभातिके क्षणे ॥- का.का. कारिका 11
7. नाट्यशास्त्र १/५
8. युगावश्यकतापूर्ति-मन्त्र-व्यक्तिरपि क्वचित्। प्रयोजनं, रघुव्यक्ति रघुवंशे यथा कवेः ॥- का.का. का.सं.. १३
9. अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यते। काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवन-शासने ॥ - का.का. का.सं.-१४
10. अधर्मोत्थानवेलायां धर्मरक्षापि दृश्यते। काव्यार्थस्तुलसीकाव्ये यथा यवन-शासने ॥ - का.का. का.सं.-१४
11. राष्ट्रदेव प्रबोधोऽपि विश्व दैवत साक्षिकाः। काव्यं प्रयोजनं पुंभ्यः पुमर्थाश्चतुरो दुहन् ॥- का.का. का.सं.-१५
12. आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना। अलङ्कृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला ॥- का.का. का.सं.-1
13. औप्यादिर, गुणा, अर्थान्तरं, वस्तुक्तिरेव च। अस्तूक्तिश्च विभावादिबन्धरूपा रसावहा ॥ का.का. कारिका सं 1 की वृत्ति पृ. 7(कारिका4)
14. का.का. पृ.सं 7(वृत्ति कारिका सं.- 2)
15. प्रभावो यस्तु काव्यस्य सामाजिकचित्ति स्थितः। स रसः, स न काव्यस्य धर्मतां प्रतिपद्यताम् ॥ का.का. का.सं.-164
16. मेयाधीनाऽत्र मानस्य प्रसिद्धिर्नाट्यवर्त्मनि। मेयो रसः स च श्रीमान् भवानेव परात्परः ॥ - ना.अनु. का.सं. 2/22
17. नट - नर्तक - गायन प्रयोगेष्वभिरूपेष्वभिरूपताप्रसूर्या। ननु तत्र कलाकलापि - पत्न्यां भजते किं खलु वासयष्टिभूयम् ॥ - ना.अनु. का.सं. 4/1
यदि भावकचेत्तैव तस्यै भजते काञ्चन-वासयष्टिभूतिम्। भजते ननु कौतुकं पुनर्नीश्चितिरस्यापि रहस्यमाजिघृक्षुः ॥ - ना.अनु. का.सं. 4/2
18. कलया तनु भङ्गिमाकलात्रया यदि व कण्ठरतिप्रकल्पधात्र्या। रस-भाव-विभावनातिशीति-प्रतिपत्रयाऽऽहियते तु भावकात्मा ॥ - ना.अनु. का.सं. 4/11
19. यदिदं हरणं तदैव किञ्चिन्निभृतं हन्त रहस्यमेव बुद्धेः। प्रतितिष्ठति यत् समासु नित्यं व्यभिचारेण विना कलास्वमूषु ॥ - ना.अनु. का.सं. 4/12
20. अयमस्य कलात्रयस्य वंशः प्रथमे यत्र समन्वयः पटीयान्। अयमेव हि चित्समाधियोगप्रभवः कोऽपि रसाऽद्वाभियोगः ॥ - ना.अनु. का.सं.4/23
21. रसत्वं किमिति प्रश्ने चित्त्वमुत्तरमुत्तमम्। भावानां योजना तत्र शृङ्गारत्वादि-साधिका ॥- ना.अनु. का.सं. 5/15
22. साहित्यशारीरकम् , पृष्ठ सं. 205

23. एवं च भव इत्युक्ते गृह्येण निखिला इमे। रसश्चिद्
भावसंयुक्तेत्यतः सद् रसलक्षणम् ॥- ना.अनु. का.सं. 5/39
मुनेर्यद् रससुत्रत्वेनास्ति वाक्यं प्रसिद्धिभाक्। रस-निष्पत्तिसुत्रं
तद् विशेष्यस्याऽपरिग्रहात् ॥- ना.अनु. का.सं. 5/39
24. ना.अनु. का.सं.5/1
25. को वा रसश्च सौन्दर्यञ्चापि किं यदि पृच्छ्यते। प्रश्न एष स्वयं
प्रष्टुः स्वरूपमपि संस्पृशेत् ॥- ना.अनु. का.सं. 5/2
26. सता चैव चितिशैव गाहते स्वं यथ तथा। आनन्दोऽपि
परब्रह्मकलात्मा तद् वगाहते ॥- ना.अनु. का.सं. 5/7
27. सच्चिदानन्दरूपोऽहमिति यद्यपि नास्ति धीः। तथापि तर्कशुद्धा
वै सच्चिदानन्दऽऽत्मनः ॥- ना.अनु. का.सं. 5/7
28. यदा सांख्ये गुणानां या स्थितिस्तामनुवर्त्तते।
कलात्रेतास्थितिर्ह्योषा प्रकृतिः सा परात्मनः ॥- ना.अनु.
का.सं. 5/10
29. कलाक्षेत्रे पुरो द्वैतं पश्चाद्द्वैतमीक्ष्यते। अद्वैतपरमास्तस्मात् कलाः
सर्वा इह स्थिताः ॥- ना.अनु. का.सं. 5/12
30. काव्यप्रकाश 1/2 की वृत्ति
31. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति-नाट्यशास्त्रम्
32. दशरूपक 4/1
33. अयमस्य कलात्रयस्य वंशः प्रथते यत्र समन्वयः पतीयान्।
अयमेव हि चित्समाधियोगप्रभवः कोऽपि रसाऽद्वयाभेयोगः ॥-
ना.अनु. का.सं. 4/23
34. मेयाधीनाऽत्र मानस्य प्रसिद्धिर्नाट्यवर्त्मनि। मेयो रसः स च
श्रीमान् भवानेव परात्परः ॥- ना.अनु. का.सं. 2/22